दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९५ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २५ अंक नं० ४

अज्ञानी दुःखी-ज्ञानी सुखी

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

समस्त विश्व का परिणमन स्वतंत्र-स्वाधीन है, परंतु अज्ञानी उसे अपने आधीन परिणमित करना चाहता है; और अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में द्वेष कर-करके आकुलित होता है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतंत्र है—ऐसा न मानकर पर का स्वामी-कर्ता-भोक्ता बनकर आकुलित एवं दुःखी होता है।

ज्ञानी को न पर से लाभ की आशा है, न हानि का भय; वह तो अपनी शुद्ध परिणतिरूप संपत्ति के भोगोपभोग में तृप्त है, आत्मा के स्वाधीन सुख में मग्न है, इसलिये ज्ञानी ही सच्चा निराकुल एवं सुखी है।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अगस्त १९६९ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२९२) एक अंक २५ पैसा [द्वि. अषाढ़ सं० २४९५

अध्यात्म-पद

(राग सोरठ)

जे दिन तुम विवेक बिन खोये ।टेक ॥

मोह वारुणी पी अनादितैं, परपद में चिर सोये।
सुखकरण्ड चितपिंड आपपद, गुन अनंत नहिं जोये ।जे० ॥१ ॥
होय बहिर्मुख ठानि राग रुख, कर्म बीज बहु बोये।
तसु फल सुख दुख सामग्री, लखि, चित में हरषे रोये ।जे० ॥२ ॥
धवल ध्यान शुचि सलिलपूरतें, आस्रव मल नहिं धोये।
पर द्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ।जे० ॥३ ॥
अब निज में निज जान नियत तहाँ, निज परिनाम समोये।
या शिवमारग समरससागर, भागचंद हित तो ये ।जे० ॥४ ॥

सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर श्रावण शुक्ला पंचमी दिनांक १८-८-६९ सोमवार से प्रारंभ होकर भाद्रपद कृष्ण दशमी दिनांक ६-९-६९ शनिवार तक चलेगा।

शिविर में सम्मिलित होने के इच्छुक मुमुक्षुभाई अपने आगमन की सूचना यथाशीघ्र नाम व पूरे पते सहित भिजवा देवें, ताकि व्यवस्था की जा सके।

आनेवाले मुमुक्षुओं से निवेदन है कि अपना बिस्तार एवं आवश्यक सामान साथ लायें।

पता—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

अगस्त : १९६९ ☆ द्वि. अषाढ़, वीर नि०सं० २४९५, वर्ष २५ वाँ ☆ अंक : ४

आत्मा का रोग और उसकी औषधि

''आत्म-भ्रांति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजाण;
गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषधि विचार ध्यान॥''

(-श्रीमद् राजचंद्र)

'मैं कौन हूँ?' इसकी जिसे खबर नहीं है, स्वयं अपने ही स्वरूप को भूल गया है, ऐसी भ्रांति वह बड़ा रोग है और उससे जीव अनादिकाल से पीड़ित है। जगत में आत्म-भ्रांति के समान अन्य कोई रोग नहीं है। शरीर में जो रोग होते हैं, उनका दु:ख जीव को नहीं है, परंतु अपने मिथ्यात्व रोग का ही महान दु:ख है।

वह रोग कैसे मिटे?—तो कहते हैं कि उसके लिये हे भव्य! तू ज्ञानी सद्गुरु को सच्चा वैद्य जानकर उनका सेवन कर; सद्गुरु की आज्ञारूप पथ्य का सेवन कर; गुरु ने जैसा आत्मस्वरूप बतलाया है, उसका विचार और ध्यान कर; यही आत्म-रोग मिटाने की अमोघ औषधि है।

शुद्धात्मा ही आश्रय करनेयोग्य है

[राजकोट में श्री नियमसार गाथा ३८ तथा ५० पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

(तारीख २५-२६-३-६९)

यह शुभाशुभ अधिकार की पहली गाथा है, इसमें हेय-उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है:—

जीवादिबहित्च्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त 'आत्मा ',आत्मा को उपादेय है। भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उस पर जिसकी दृष्टि है, ऐसे आत्मा को उपादेयभूत शुद्धात्मा का श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण है, शुद्धद्रव्य, स्व-तत्त्व परमानंद ध्रुववस्तु, वह अन्त:तत्त्व है, जो शुद्धनिश्चयनय का विषय है। उसके सामने व्यवहारनय के भेदरूप विषय—परद्रव्य, परभाव और पर्याय में अनित्य अंश (भेद) सब भिन्न हैं, बाह्य हैं, हेय हैं। परमपारिणामिकभावरूप स्वद्रव्य की अपेक्षा सभी बाह्यतत्त्व हैं। औदयिकादि चार भावांतरों से यह आत्मा अगम्य है। पुण्य-पाप का शुभाशुभराग तो स्वतत्त्व में नहीं है और उसके द्वारा शुद्ध आत्मा का अंगीकार नहीं होता। अत: (१) औदयिकभाव बाह्यभाव है; आत्मतत्त्व से अन्य है। (२) औपशमिकभाव भी त्रैकालिक वस्तु अपेक्षा अन्यभाव है, सम्यक्श्रद्धा और चारित्र में उपशमभाव होता है, वह वर्तमान निर्मलभाव है, किंतु आत्मा उसके आलंबन द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। (३) क्षायोशपमिकभाव भी पर्याय है, अंश है, अनित्य है, उसके आश्रय से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। क्षायोपशमिकभाव अधूरा विकास है, (४) क्षायिकभाव पूर्ण विकास दशा है, वह त्रैकालिक आत्मा नहीं, वह तो व्यवहार आत्मा है। व्यवहार उस काल में जानने के अर्थ में उपादेय है, किन्तु वीतराग होने के लिये आश्रय करनेयोग्य नहीं है। अरे! किसके आलंबन से शांति होगी! मृत्यु के समय कोई भगवान का नाम जपता हो, कषाय भी मन्द हो, तथापि परद्रव्य के आलंबनरूप राग है, उससे आत्मा का ज्ञान और सुख नहीं होता।

आत्मा में सामान्य ध्रुवशक्ति त्रिकाल एकरूप है, उसका पूर्ण आश्रय करने से जो पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है, उस पर्याय के आलंबन से भी यह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

क्योंकि वह अनित्य भेदरूप अंश होने से आत्मा के साथ रहे, ऐसा स्थायी भाव नहीं है। सरागी जीव को चार भावों के लक्ष से विकल्प ही उत्पन्न होता है; अत: उस भेद के आश्रय से आत्मा प्राप्त नहीं होता; क्षणिक अंश के आश्रय से त्रिकाली-अंशी आत्मा का अनुभव नहीं होता, इसलिये वह पर्याय-व्यवहारिकभाव है, शरणरूप होने की उसमें शक्ति नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा शाश्वत् पूर्ण सुख का ध्रुवधाम है, उसे ही निश्चय-परमार्थ-शुद्धात्मा और उपादेय तत्त्व जानकर उसी का आलंबन करना चाहिये। तीन लोक के स्वामी सर्वज्ञ वीतराग की दिव्यध्वनि में ऐसी सत्यकथा आती है। एक समय की निर्मलपर्याय व्यवहार आत्मा है। त्रैकालिक आत्मा, वह निश्चय आत्मा है। जिनशासन के प्राण समान समयसार की ११वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि शुद्धनय (शुद्धनय का विषय) भूतार्थ है उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय के आश्रय से सम्यक्त्वादिक निर्मल दशा नहीं होती; क्योंकि पर्याय में से पर्याय नहीं आती।

टीका का संक्षेप गाथा है और मूल गाथा का विस्तार टीका है। जिसप्रकार भैंस के स्तन-प्रदेश में दूध भरा है, किंतु जो बलवान है, वह अपने अंगूठे के जोर से दुहकर बाहर निकालता है; उसीप्रकार जो भाव अंदर गाथा-सूत्र में भरे हैं, उन्हें सम्यक् प्रकार से खींचकर प्रगट करना, वह टीका है; उसमें कहा है कि निश्चय आत्मा है, वह तीनों काल द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मों से भिन्न ही है, किंतु एक समय की पर्याय से भी कथंचित् भिन्न है। क्षणिक में नित्य वस्तु नहीं है, और नित्य स्वभाव में अनित्य स्वभाव गौण है। शुद्ध द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मा, पर्याय-अंश भेद के बिना, त्रिकाल एकरूप स्व से ही परिपूर्ण है, किंतु पर्याय उसके सन्मुख अभेद करे तो उसे शुद्ध कहा जावेगा। अंत:तत्त्व नित्य पूर्ण विज्ञानघन विद्यमान है, उसका बहुमान न आये तो उसका आलंबन कैसे लेगा ?

व्यवहारात्मा बाह्यात्मा है, उसके आलंबन से सुखी नहीं होगा। अन्य की महिमा छोड़कर अंतर में नित्य निर्विकार ज्ञायक वस्तु कौन है ? उस अभेद वस्तु को देख। जैसे ऊपर की सीढ़ी पर पाँव रखे बिना नीचे की सीढ़ी नहीं छूटती, उसीप्रकार अंतर में नित्य पूर्णानंद अस्तिस्वभाव का आदर और एकत्व किये बिना राग का एकत्व नहीं छूटता। अत: प्रथम अखंड पूर्ण अस्तिस्वभाव कैसा है, कैसा नहीं है, वह जानना चाहिये। चार विभाव अर्थात् विशेष भाव पर्यायरूप हैं किंतु वह अखंड आत्मा नहीं है। आत्मा ऐसा नहीं, वैसा नहीं,

इसप्रकार 'नेति-नेति' कहे किंतु सदा वह है कैसा ? वह पहले समझना चाहिये। आत्मा स्वरूप से सत् है। 'है' उसे कौन करे ? 'आत्मा है, वह नित्य है, है, कर्ता निज कर्म;' भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप नित्य और परिणामी एक समय में स्व से ही परिपूर्ण है, निजभावों का कर्ता भोक्ता एवं स्वामी है, अचिंत्य अतीन्द्रिय स्वभाववान शुद्धज्ञान उसका रूप है। प्रवचनसार शास्त्र गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के २० बोल में कहा है कि (१) इन्द्रियों से जाने, ऐसा आत्मा नहीं तथा (२) जो इन्द्रियों द्वारा जाना जाये, ऐसा आत्मा नहीं है; जो पवित्रता और आनंद प्रगट करना चाहते हैं, वे पूर्ण ही चाहते हैं, वह कहीं से आती है या नहीं ? वह सदा अंतरंग में प्रगट है, पवित्र पूर्ण ज्ञान-सुख का निधान है, सहज स्वाभाविक वस्तु है, वह परमपारिणामिकभाव है, पर की अपेक्षा रहित पूर्णज्ञानघन वस्तु स्वयं नित्य परमस्वभाव है, उसी कारणपरमात्मा को अन्तःतत्त्व, शुद्धभाव अर्थात् निश्चय आत्मा कहा है। केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है, वह व्यवहार परमात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार से मुक्त है अर्थात् दृष्टि में सर्व पराश्रय से मुक्त है।

प्रश्नः—आत्मा और परमात्मा में क्या अंतर है ?

उत्तरः—आत्मा कहो या शुद्ध जीवतत्त्व कहो, वही नित्य एकरूप द्रव्यसामान्य अपेक्षा त्रैकालिक निश्चय आत्मा है अर्थात् उसे ही वास्तव में उपादेय, ऐसा आत्मा कहा है। पर्याय में उस कारणपरमात्मा में से पूर्ण कार्यपर्याय उत्पन्न होती है, वह व्यवहार परमात्मा है, अति आसन्नभव्यों को ऐसा त्रैकालिक आत्मा उपादेय है, दूसरा कुछ उपादेय नहीं है।

सारांश—सहज ज्ञान त्रैकालिक एकरूप शुद्ध पूर्ण विज्ञानघन परम वीतराग सुखात्मक ऐसा जो शुद्ध अन्तःतत्त्व है, वही परमपारिणामिकभाव स्वद्रव्य है, उसका सदा अभेद एकरूप आधार, यह आत्मा है, वह निश्चय आत्मा है, वही त्रैकालिक कारण-समयसार, कारणपरमात्मा है और वही आदरणीय है; उसी का आलंबन करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, जो व्यवहार आत्मा है।

[तारीख २६-३-६९]

अनादिकाल से जीवद्रव्य निश्चय से शुद्ध परमात्मा होने पर भी अंश में—रागादि में एकत्वबुद्धि द्वारा अपने को भूलकर वर्तमान में भूल रखकर भटक रहा है। पुण्य में रुचि होने से विभाव-मल से मुक्त स्वरूप क्या है, हेय-उपादेय क्या है, उसका भावभासन नहीं हुआ। लोग

तो कहते हैं कि हमारे कुलधर्म में देव-गुरु-शास्त्र को माने, वह सम्यग्दृष्टि है, किंतु ऐसा नहीं है। मात्र देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या नवतत्त्वों के भेद का अनुभव करने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता। कहीं-कहीं नवतत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ तो भूतार्थदृष्टि द्वारा नवतत्त्व में से नित्य एकरूप निश्चयस्वरूप शुद्धजीव को ग्रहण करने को कहा है; त्रैकालिक ज्ञायक एकरूप की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनय द्वारा भूतार्थस्वभाव की श्रद्धा होने पर सर्वज्ञकथित नवतत्त्वों का स्वरूप सम्यग्ज्ञान में आ जाता है। यह बात महंगी है। पराश्रितभाव तो क्या, स्वद्रव्य के आश्रित निर्मलपर्याय भी एक समय का अंश है, वह कोई शरण नहीं है। एक समय की पर्याय को संपूर्ण आत्मा मानना भूल है, क्योंकि वह अशरण है। जिसप्रकार पवन के झंझावात में घास का कोई तिनका उड़ रहा हो, वह कहाँ जाकर गिरेगा, वह निश्चित नहीं है; उसीप्रकार पराश्रय-व्यवहार के भेद के आलंबन से भला माननेवाले उस तिनके की भाँति चौरासी के अवतार में रुलते ही रहेंगे। अरे! अनंतकाल में सर्वज्ञ-वीतराग ने कहा ऐसा सत्य अज्ञानवश समझा ही नहीं। अनंत बार साधु नाम धारण किया, किंतु सम्यग्दर्शन बिना अनंत दुःख पाया। स्थूल पाप तजकर पुण्य में धर्म माने, उसकी अतिस्थूल दृष्टि है। नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानने पर एक समय के भेद का आश्रय छूटकर त्रैकालिक अभेद शुद्ध एकरूप ज्ञायक की दृष्टि होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है। स्व-पर की कथा कहने की शक्ति वाणी में है; आत्मा वाणी की रचना करे, ऐसा नहीं है। उपादेयभूत भूतार्थ पूर्णानंद की श्रद्धा द्वारा अंतर्मुख होकर नवतत्त्वों में साररूप त्रैकालिक शुद्ध जीव को जाना, वह तो निश्चय और उस समय नवतत्त्वों को जाना, उसे व्यवहार कहा जाता है। मात्र भेद को माने, ऐसा तो अनंत बार किया, किंतु महान भगवान अर्थात् निश्चय भगवान आत्मा पूर्ण सच्चिदानंद है, उसकी सन्मुखता, उसका स्पर्श (अनुभव) नहीं किया; अतः सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है।

अब, नियमसार गाथा ५० में कहते हैं कि—

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अन्तरतच्चं हवे अप्पा॥५०॥

यह तो महान वस्तु है, सर्वज्ञ का मंत्र है।

पूर्व कथित सर्व भेदभाव अर्थात् आत्मा की पर्याय में अनेक शुभाशुभभाव होते हैं, वे तो

परद्रव्य हैं, किंतु संवर-निर्जरा-मोक्षरूप शुद्धपर्याय होती है, वह भी परद्रव्य है; परमार्थ से वह आश्रय करने योग्य नहीं है, अत: हेय है।

आत्मा की एक समय की औपशमिकादि पर्यायें, वह त्रैकालिक वस्तु अपेक्षा परस्वभाव है, हेय है। यह अपूर्व बात है, आगम का सार है। मध्यस्थ होकर आत्मार्थी बनकर सुने, निर्णय करे तो निहाल हो जाये, ऐसी बात है। जो शब्द जिस अपेक्षा से कहा जाता है, वही बराबर समझो, तभी वस्तु का यथार्थ ग्रहण होगा। ज्ञायक चिदानंद परमात्मा स्वयं अपना अंत:तत्त्व है, वही स्व-द्रव्य है, वही उपादेय है और उससे बाह्य सभी व्यवहारिक भाव परभाव हैं, बाह्यतत्त्व हैं। नवतत्त्व के विकल्पों पर दृष्टि रखते हैं, उन्हें भगवान के कहे हुए जीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। भूतार्थ त्रिकाल ज्ञायक तत्त्व को आश्रय के लिये उपादेय कहा और निर्मल पर्याय को आश्रय छोड़ने के लिये परभाव-परद्रव्य कहते हैं, क्योंकि पर्याय के आश्रय से पर्याय नहीं होती, और भेद के आश्रय से तो रागी जीव को राग ही उत्पन्न होता है, इसलिये वह निर्मलता के कार्य में आश्रय करने योग्य नहीं है, इस अपेक्षा से पर्याय में चारों भाव को हेय कहा है। जीवद्रव्य को पर्याय में जो एक-एक समय की समल या निर्मल पर्याय होती है, वह व्यवहार काल्पनिक नहीं है, परंतु निर्मलता प्रगट करने के लिये और शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा के लिये उस पर दृष्टि करना योग्य नहीं है।

जैसे महारानी पर्दे से बाहर निकले तो उसे देखने को कितना कौतूहली होता है, उसीप्रकार यह आत्मा अनादि काल से अज्ञानरूपी पर्दे में था, श्रीगुरु उसकी प्रगट रूप से पहचान कराते हैं, अब उसे देखने के लिये कौतूहली हो!

अनंतदर्शन-ज्ञान-चारित्र और अनंतवीर्य सहित पूर्ण अक्षय आनंद की मूर्ति वह चैतन्य स्व-तत्त्व है—स्व-द्रव्य है, उसका आधार, यह भगवान आत्मा है, उसे ही परमपारिणामिकभाव और उपादेय कहा है। यह तो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभूति प्रगट करने की अपूर्व अलौकिक नीति-कथा है। बाह्य की बातें तो अनंतबार सुनी हैं; कॉलेज में प्रोफेसर एक घंटे तक बोलता रहे और छात्र सुनते रहें, ऐसा यह नहीं है। आत्मा को लाभरूप-शरणभूत कौन है, उसका निर्णय और अनुभव करने की यह बात है। प्रथम सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनंदसहित चैतन्य स्पष्ट प्रगट प्रतिभास में आता है। समुद्र में उसके अपने कारण से समय पर ज्वार आता है, बाहर की वर्षा या नदियों के आने को अपेक्षा उसे नहीं है; उसीप्रकार

भगवान आत्मा चैतन्य-रत्नाकर है, उसे इन्द्रिय और बाह्य आलंबन की अपेक्षा नहीं है। एक समय की निर्मल पर्याय भी अंतर की शांति के लिये आश्रय योग्य नहीं है, किंतु ध्रुव अंत:तत्त्व ही शरण है, ऐसा दृढ़ निश्चय प्रथम से ही करना चाहिये। ऐसे स्वभाव की महिमा आये बिना सच्ची पात्रता नहीं आती।

नियमसार की इस ५०वीं गाथा में आत्महित के लिये हेय-उपादेय का मुख्य कथन है। आत्मा को देह नहीं है, तो स्त्री-धनादि उसके कहाँ से होंगे? उसने परद्रव्य का ग्रहण नहीं किया है किंतु पर के प्रति ममत्व किया है, वह दोष त्रैकालिक निर्मोही शुद्धस्वभाव का आश्रय करे तो छूटता है। यह तो भगवान आत्मा की भागवत-कथा है। एक समय की निर्मल पर्याय भी आश्रय करने योग्य नहीं; इसलिये श्रद्धा में वह भी हेय है और त्रैकालिक स्वभाव-स्वद्रव्य है, वही उपादेय है। निश्चय के बल से सभी व्यवहारभाव हेय हैं; भेद का आलंबन लेने से रागी को राग की उत्पत्ति होती है। ज्ञानी को निचली दशा में राग-व्यवहार-निमित्त आते हैं किंतु श्रद्धा में उनका नकार वर्तता है, वे आलंबन योग्य नहीं है, ऐसी प्रतीति उसे सदा रहती है। अरे! एक समय की निर्मल पर्याय की भावना करने योग्य नहीं है। यहाँ तो व्यवहारनय का विषय निश्चय के आश्रय से हेय है, यह स्पष्ट बतलाया है। प्रमाणरूप ज्ञान में जिसे द्रव्य-गुण-पर्याय का सच्चा ज्ञान होता है, उसे दोनों का सच्चा ज्ञान होता है और हेय-उपादेय का निर्मल परिणमन होता ही है, उसके बिना धर्म नहीं होता।

मोक्षमार्ग के सर्व भावों में शुद्ध द्रव्य का ही अवलंबन है।

सम्यग्दर्शन शुद्धपारिणामिक परभाव को विषय करता है, उसे श्रद्धा में लेकर उसमें अभेद होता है उसका नाम भावना है। उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी उसी का अवलंबन लेकर अभेद होते हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अवलंबन क्या ?—कि अपना परमस्वभाव ही उसका अवलंबन है। राग या निमित्त वह कोई मोक्षमार्ग में सहायक नहीं हैं। कलियुग में तो आगम और जिनबिंब का आधार है—यह बात व्यवहार की है; तीनों काल भगवान आत्मा ही स्वयं अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अवलंबन देनेवाला है।

* सम्यग्दर्शनपर्याय को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* सम्यग्ज्ञानपर्याय को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* सम्यग्चारित्र को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* क्षायिकभव को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* उपशमभाव को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* सम्यक्क्षयोपशमभाव को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।
* शुद्धपरिणतिरूप भावना को द्रव्य का अवलंबन है, राग का अवलंबन नहीं है।

—इसप्रकार मोक्षमार्ग के सर्व निर्मलभावों में अपने शुद्ध आत्मद्रव्य का ही अवलंबन है, अन्य किसी का अवलंबन उसमें नहीं है। अवलंबन लेना अर्थात् उसमें अभेद होकर उसे भाना-ध्याना, वही भावना है। ऐसी अभेद भावना सो मोक्षमार्ग है, उसमें राग का विकल्प नहीं है। ऐसी जो रागरहित भावना है वह उपशमादिभावोंरूप है। पारिणामिकभाव स्वयं भावनारूप नहीं है, परंतु भावना के विषयरूप है। भावना कहो, शुद्धचैतन्यपरिणाम कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, उपशमादिभाव कहो या मोक्षमार्ग आदि नाम कहो, वे सब एक पर्याय को ही लागू होते हैं। उस पर्याय ने अंतर्मुख होकर अपने परमस्वभाव का अवलंबन लिया है, वह शुद्धात्माभिमुख हुई है। जीव की ऐसी दशा हो तब वह मोक्षमार्ग में आया कहा जाता है।●

सर्व तीर्थंकरों द्वारा सेवित तथा उपदेशित एक ही मार्ग

शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग

अहो! उन तीर्थंकरों को और उस मार्ग को नमस्कार हो!

शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो मोक्षमार्ग है, उस मार्ग का निःशंक निश्चय करके तथा स्वयं उस मार्ग में आरूढ़ होकर आचार्यदेव कहते हैं कि—सर्व भगवंतों ने भी इसी एक मार्ग को अंगीकार करके मोक्ष प्राप्त किया है और यही मार्ग उन्होंने जगत को कहा है:—

श्रमणो, जिनो, तीर्थंकरो आ रीत सेवी मार्गने,
सिद्धि वर्या; नमुं तेमने, निर्वाणना ते मार्ग ने॥१९९॥

एक मोक्षमार्ग व्यवहार के आश्रित, और दूसरा मोक्षमार्ग निश्चय के आश्रित—इसप्रकार दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। मोक्षमार्ग एक ही है। शुद्धात्मरूप निश्चय के आश्रित ही मोक्षमार्ग है तथा व्यवहार वे आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं।

मोक्ष का एक ही मार्ग है, वह कैसा है ? कि शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप है। चरमशरीरी सर्व जीव ऐसे मार्ग से ही मोक्ष को प्राप्त हुए, परंतु अन्य किसी मार्ग से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए हैं।

अनंत जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, तो क्या सर्व जीवों को आपने पहिचान लिया ?—हाँ; आचार्यदेव कहते हैं कि अपने अंतर में ऐसे मोक्षमार्ग का हमने अनुभव किया है, शुद्धात्मा में प्रवृत्ति द्वारा ऐसे मोक्षमार्ग को हम साध रहे हैं; मोक्षमार्ग को साधने का कार्य किया जा रहा है; इसलिये स्वयं मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करते हुए, अनुभव के बल से कहते हैं कि सर्व तीर्थंकरों ने, सर्व मुनिवरों ने तथा जिनवरों ने ऐसा ही मोक्षमार्ग प्राप्त किया है और जगत के मुमुक्षुओं को भी ऐसा ही मार्ग का उपदेश दिया। दूसरे मार्ग का अभाव है। पूर्व की ८२वीं गाथा में भी कहा था कि—

अर्हंत सौ कर्मोतणो करी नाश अे ज विधि वडे।
उपदेश पण अेम ज करी, निर्वृत थया; नमुं तेमने॥८२॥

शुद्धात्मा के अनुभव बिना दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। ऐसे मार्ग का स्वयं अनुभव करके भगवंतों ने जगत को दिखलाया है। हमने ऐसे मार्ग का निर्णय किया है, ऐसे मोक्षमार्ग में हमारी मति व्यवस्थित हुई है। देखो, आचार्यदेव निःशंक स्वानुभव से मानते हैं कि

मोक्ष के मार्ग में हमारी मति स्थिर हुई है; इसमें अब दूसरे विकल्प का अवकाश नहीं है। इसलिये अति प्रलाप से बस हो! अहो, ऐसे एक ही मार्ग का उपदेश करनेवाले अर्हंतों को नमस्कार हो।

यहाँ गाथा १९९ में भी आचार्यदेव कहते हैं कि मोक्ष का मार्ग शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप है। शुभराग में—व्यवहार में प्रवृत्ति, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं; वह तो बंध का माग है। अहो, शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप यह एक ही मोक्षमार्ग, उसमें परिणमित हुए सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो; तथा शुद्धात्मप्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को नमस्कार हो।—अन्य विस्तार से बस हो, ऐसे मोक्षमार्ग को हमने अवधारित किया है और मोक्ष को साधने का कार्य किया जा रहा है। शुद्धात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में हम परिणमन कर ही रहे हैं। भगवंतों ने जो मार्ग अंगीकार किया, उसी मोक्षमार्ग का अनुभव करके हम भी मोक्ष साध रहे हैं। जिस मार्ग पर अनंत तीर्थंकर विचरे हैं—उसी मार्ग पर हम भी चल रहे हैं। चतुर्थकाल के भगवान जिस मार्ग से विचरे, उसी मार्ग से हम पंचमकाल के मुनि भी चल रहे हैं। तथा आज कल विदेहक्षेत्र में भी इसी मार्ग को तीर्थंकर भगवान कह रहे हैं, और मुनि इसी मार्ग से केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को साध रहे हैं।—ऐसा मोक्ष का एक ही मार्ग है। त्रैकालिक जीवों के लिये मोक्ष का एक ही मार्ग है—

भेद विज्ञानतः सिद्धा-सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा-बद्धा ये किल केचना॥

भेदज्ञान कहो कि पर से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव कहो, वही मोक्ष का मार्ग है। चरमशरीरी हो कि अचरमशरीरी हो, तीर्थंकर हो कि सामान्य मुमुक्षु हो—सबके लिये एक ही मोक्षमार्ग है, किसी के लिये दूसरा मोक्षमार्ग नहीं। पंचम काल के चरमशरीरी मुनिवरा भी ऐसे शुद्धात्म-अनुभवरूप निश्चयमोक्षमार्ग में परिणमन कर रहे हैं। ऐसे मार्ग के प्रति प्रमोद से आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, ऐसे मार्ग को साधनेवाले तीर्थंकरों को नमस्कार हो—ऐसे मार्ग को नमस्कार हो। हमने भी ऐसा मोक्षमार्ग अवधारित किया है, कृत्य करने में आता है। 'अवधारितो मोक्षमार्गः, कृत्य अनुष्ठीयते।' स्वयं उन भगवंतों के मार्ग में मिलकर उसे नमस्कार किया है।

मोक्षमार्ग शुद्धात्मा में परिणमनरूप है। मुनिदशा में ऐसा ही मोक्षमार्ग है; बीच में शुभ विकल्प हो, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। उस शुभ विकल्प द्वारा कभी किसी जीव को मोक्षमार्ग

नहीं होता, तथा भगवंतों ने ऐसा शुभ विकल्परूप मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दिया है। भगवंतों ने तो शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप एक वीतराग मोक्षमार्ग का ही उपदेश दिया है।

'ऐसा मार्ग वीतराग का देखा श्री भगवान'

अरे! सच्चे मार्ग का भी जिनको निर्णय नहीं, मार्ग का स्वरूप ही विपरीत मानते हैं, वे तो धर्म से भ्रष्ट हैं, मार्ग से भ्रष्ट हैं; उनको मुनिदशा कैसी? तथा मोक्षमार्ग कैसा? राग के एक अंश को भी जो मोक्ष का साधन मानते हैं, वे जीव भगवान के कहे हुए वीतरागमार्ग के शत्रु हैं। भगवान ने जो वीतरागभाव को ही मोक्षमार्ग कहा है, राग को तो बंध का कारण कहा है, तथा यह जीव राग को मोक्ष का कारण मानता है, तो वह सर्वज्ञ के मार्ग से भ्रष्ट है। 'दंसणभट्टा भट्टा' सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट है, वह बिल्कुल भ्रष्ट है। सम्यग्दर्शन हो परंतु कदाचित् चारित्रदशा न हो तो भी वह जीव भगवान के मार्ग में है। वे मोक्ष को साधेंगे; क्योंकि राग को बंध का कारण मानते हैं, इसलिये अल्प काल में उसका अभाव कर के शुद्धात्मा में एकाग्रता द्वारा वे मोक्ष को साधेंगे। इसप्रकार सर्व जीवों के लिये ऐसे शुद्धात्मा का अनुभवरूप एक ही मोक्षमार्ग है। सर्व तीर्थंकरों द्वारा सेवित और उपदेशित यह एक ही मार्ग है। अहो, उन तीर्थंकरों को और शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को नमस्कार हो।

***

जो मुनि शुद्धात्म-प्रवृत्ति द्वारा मोक्ष के साक्षात् कारण में परिणमन कर रहे हैं, उन मुनियों को मोक्षतत्त्व ही कहा है; तथा जो जीव संसार के कारणरूप मिथ्यात्व में परिणमन कर रहे हैं, उनको संसारतत्त्व कहा। अरे, अशरीरी आत्मा को शरीर धारण करना पड़े, यह तो कलंक है। धर्मी कहते हैं कि मैं सिद्धस्वरूप हूँ। 'मैं जन्म को जानूँ नहीं, सुख से भरा हुआ शिव हूँ।'

धर्मी को धर्मात्मा प्रति उल्लास आता है। स्वयं मोक्षमार्ग में परिणमन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्यदेव को दूसरे मोक्षमार्गी मुनिराजों के प्रति धर्म का प्रमोद आने पर आह्लाद से कहते हैं कि अहो! यह मोक्षमार्गी श्रमण तो मोक्षतत्त्व ही हैं; वे हमारे मनोरथ का स्थान है। उनको नमस्कार हो। कैसा नमस्कार? शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप नमस्कार। बीच में से राग का विकल्प निकालकर शुद्धात्मा में एकाग्र होने पर, सिद्धों को तथा मोक्ष के मार्ग को सहज ही अभेद नमस्कार हो जाता है। अपनी परिणति शुद्ध हुई, वही नमस्कार है। वाह! संत शुद्धात्मा में रमणता करके प्रचुर आनंद का वेदन करते-करते मोक्ष को साध रहे हैं। धन्य उनका अवतार!

धन्य उनकी वीतरागपरिणति! मैं भी अपने में ऐसी वीतराग परिणति प्रगट करके नमस्कार करता हूँ। बीच में राग का विकल्प आया, उसके द्वारा नमस्कार करने का नहीं कहा, इसलिये मोक्षमार्ग में बीच से व्यवहार का निषेध कर डाला। विकल्प की ओर झुकाव नहीं, शुद्धात्मा की ओर ही झुकाव है, शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग हमने अंगीकार किया है—ऐसा धर्मी नि:शंक मानता है। अपने में ज्ञान हुआ और अपने को उसका पता नहीं लगे, ऐसा नहीं है। 'हमको सम्यग्दर्शनादि होगा या नहीं' ऐसी शंका हो, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी को ऐसी शंका नहीं रहती। वह तो स्वानुभव के बल से कहते हैं कि हमारा आत्मा मोक्षमार्ग में परिणमन कर रहा है। आत्मा जागृत हुआ और मार्ग दिखाई दिया—वहाँ अब संदेह कैसा?

आत्मा के कैसे निर्णय से धर्मी ने मोक्षमार्ग अंगीकार किया? उसका अद्‌भुत वर्णन २००वीं गाथा में किया है। प्रथम तो, मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ, तथा मैंने ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व का परिज्ञान किया है। ऐसे आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व का त्याग करके तथा निर्ममत्व का ग्रहण करके सर्व उद्यम से मैं शुद्धात्मा में परिणमता हूँ।—देखो, यह मोक्ष को साधने की विधि! मोक्ष की विधि में शुद्धात्म-प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कृत्य का अभाव है; दूसरा कुछ करने से मोक्ष का साधन नहीं होता है। ऐसे मोक्षमार्ग में मेरी मति व्यवस्थित हुई है, उसमें अब कोई संदेह नहीं रहा। चौथे गुणस्थान से ही धर्मी जानता है कि मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ.... मोक्ष के मार्ग में चल रहा हूँ।

पर से भिन्न शुद्ध आत्मा के ज्ञानपूर्वक ही ममत्व छूट सकता है। पर का कर्तृत्व माने, उसे ममत्व कभी नहीं छूट सकता है। राग को मोक्ष का साधन माने, उसे राग का ममत्व नहीं छूटता, तथा वीतरागी मोक्षमार्ग कभी नहीं होता। इसलिये मोक्ष का अधिकारी—मोक्ष का युवराज ऐसा धर्मी कहता है कि मैंने अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व को बराबर जाना है; उसके परिज्ञानपूर्वक सर्वत्र ममत्व का त्याग करके मैं शुद्धात्मा में परिणमता हूँ; क्योंकि शुद्ध आत्मा में परिणमने के अतिरिक्त अन्य कृत्य का मुझमें अभाव है। आत्मा ज्ञायक है, समस्त विश्व ज्ञेय है; इसके अतिरिक्त विश्व के पदार्थों के साथ आत्मा को दूसरा कोई संबंध नहीं है। पर के साथ स्व-स्वामीपने का अभाव है, इसलिये मुझे पर का ममत्व नहीं है। इसप्रकार भेदज्ञान के बल से ममत्व छोड़कर, निर्ममरूप से मैं अपने ज्ञायकस्वभाव में ही रहता हूँ। इसप्रकार स्वभाव में एकाग्र हुआ आत्मा, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत है। आचार्यदेव

कहते हैं कि अहो! ऐसे निजात्मा को सदा स्वयमेव भाव-नमस्कार हो... तथा सिद्धस्वरूप परमात्माओं को भाव-नमस्कार हो।

देखो तो सही, यह साधुदशा! ऐसी दशा का नाम साधुपना है, वह तो साक्षात् सिद्धभूत है। ऐसे शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप साधुदशा अपने में प्रगट करके अन्य जीवों को भी वह दशा अंगीकार करने का उपदेश आचार्यदेव ने (तृतीय अधिकार में) दिया है कि—मैंने जिसप्रकार शुद्धात्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य को अंगीकार किया, उसीप्रकार अन्य भी जो आत्मा दु:ख से छूटना चाहते हों, वे भी ऐसे श्रामण्य को अंगीकार करें। उसका मार्ग हमने देखा है, अनुभव किया हुआ है; उस यथानुभूत मार्ग के प्रणेता हम यह खड़े हैं।

[नमस्कार हो... श्रामण्य-मार्ग के प्रणेता वीतरागी संतों को!]

सच्चा जीवन

जिसने जीव की शुद्ध चैतन्यसत्ता का स्वीकार नहीं किया और अन्य के द्वारा उसका जीवन (उसका स्थायित्व) माना, उसने जीव के स्वाधीन जीवन का घात किया है, स्वयं अपना भावमरण किया है। उसे अनंत शक्तिवान स्वाधीन जीवन बतलाकर आचार्यदेव 'अनेकांत' द्वारा सच्चा जीवन देते हैं। संतों ने करुणा करके 'भावमरण' मिटाने के लिये अनंत आत्मशक्तिरूपी संजीवनी प्रदान की है—जिसके द्वारा अविनाशी सिद्धपद प्राप्त होता है। वह जीव का सच्चा जीवन है, वह सुखी जीवन है।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ५१] [अंक २८९ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

शास्त्रों में मुनि को दिगम्बरदशा तथा उच्च जाति और पुरुषलिंग ही होने का कहा है—उक्त कथन से कोई जीव उन बाह्य चिह्नों को ही मोक्ष का कारण मान ले और अन्तरंग के सही साधनों को भूल जाये तो वह परम पद को प्राप्त नहीं होता—इसप्रकार अब ८९वीं गाथा में कहते हैं—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तऽपि न प्राप्तनुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥

इस गाथा का कोई ऐसा विपरीत अर्थ जाने कि जाति-लिंग के भेद का आग्रह नहीं करना, अर्थात् चाहे जिस जाति और चाहे जिस लिंग में मोक्ष मान लेना,—तो यह अर्थ बराबर नहीं है। शास्त्र में निमित्तरूप जो जाति और लिंग आदि कहे हैं, वही निमित्त होते हैं और विपरीत नहीं होते हैं; परंतु उस निमित्त का, अर्थात् बाह्यसाधन का आग्रह नहीं करना और अंतर के सही साधनरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पहिचानकर उसकी उपासना में तत्पर होना चाहिये।

किस जाति में तथा कैसे वेष में मोक्ष होगा ?—उसका निर्णय भी अनेक जीवों को नहीं होता, और चाहे जैसे कुलिंग में भी मोक्ष हो जाना मानते हैं—उनको तो सच्चे मार्ग का भी पता नहीं है। मोक्ष का सच्चा साधन तो रत्नत्रय है; और जहाँ ऐसा रत्नत्रयरूप मोक्षसाधन हो, वहाँ बाह्यसाधनरूप उत्तम जाति तथा दिगम्बर पुरुष वेष ही होता है; इसके अतिरिक्त दूसरा माने उसे

तो मोक्ष के बाह्यसाधन का भी पता नहीं है तो अंतरंग सच्चा साधन तो उसे कहाँ से होगा ?

'जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय' ***—श्रीमद् राजचन्द्र***

इसप्रकार कहा है परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि चाहे जिस जाति में और चाहे जिस वेष में मुक्ति हो जाये। उसका सही अर्थ तो ऐसा समझना चाहिये कि जहाँ यथार्थ मोक्षमार्ग हो, वहाँ जाति-वेष के भेद नहीं होते, अर्थात् वहाँ जो होता है, वही होता है—दूसरा भेद नहीं होता, अर्थात् दिगम्बर वेष और तीन उत्तम जाति के अतिरिक्त दूसरा वेष या दूसरी जाति नहीं होती है। ऐसा होने पर, जिनकी ऐसी मान्यता हो कि इस लिंग और इस जाति के कारण ही अब मेरी मुक्ति हो जायेगी—उसे लिंग और जाति का आग्रह है। लिंग और जाति तो शरीराश्रित है, उसका जिसे आग्रह और ममत्व है, उसे देह से भिन्न चैतन्य जाति का पता नहीं, इसलिये वह परम पद को प्राप्त नहीं होता।

मुनिदशा में दिगम्बर लिंग ही होता है, दूसरा लिंग नहीं होता तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण या वैश्य जाति ही होती है, शूद्र जाति नहीं होती।—इसप्रकार आगम में कहा है, वह तो यथार्थ निमित्त कैसा हो, वह वहाँ बतलाया है—परंतु आगम के उस कथन से कोई अज्ञानी ऐसा माने कि 'इस लिंग और इस जाति से ही अब मुक्ति हो जायेगी' तो उसे आगम की ओट में जाति और लिंग का ही आग्रह है, वह भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। इस जाति और इस लिंग में ही मोक्ष होता है—ऐसा कहकर शास्त्रों ने तो यथार्थ निमित्त बतलाया है, परंतु कहीं उस जाति या लिंग को ही मोक्ष का कारण कहने का शास्त्रों का अभिप्राय नहीं; तो भी उसी को जो मोक्ष का कारण मानते हैं, वे संसार में ही परिभ्रमण करते हैं। मोक्ष का कारण तो आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही हैं; जो ऐसे रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

[वीर संवत् २४८२ श्रावण कृष्णा छठ]

समाधि-शतक, गाथा-९०

शरीर की जाति या लिंग वह मोक्ष का कारण नहीं—ऐसा समझकर शरीर का ममत्व छोड़कर परमपद में प्रीति करना है। जिस शरीर का ममत्व छोड़ने के लिये, तथा जिस परमात्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये भोगों से निवृत्ति का उपदेश है, उसे जाने बिना अर्थात् शरीर से भिन्न चिदानंदस्वरूप आत्मा को जाने बिना भोगादिक को छोड़कर भी अज्ञानी जीव मोह के कारण उस शरीर में ही अनुराग करने लगता है और दूसरे पर अर्थात् परमात्मस्वरूप पर

द्वेष करता है।—जिसका त्याग करने का है, उसकी तो प्रीति करता है और जिसकी प्राप्ति करना है उस पर द्वेष करता है—इसप्रकार अब गाथा ९० में कहते हैं—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥

अज्ञानी जीव शरीर का ममत्व छोड़ने के लिये जिन भोगों को छोड़ता है उसी में पुनः अज्ञान से वह प्रीति करता है तथा परमपद के प्रति अप्रीतिरूप द्वेष करता है। इन्द्रिय-विषयों को छोड़कर अतीन्द्रिय आत्म-स्वभाव में आने का तो उसे पता नहीं इसलिये एक प्रकार के इन्द्रिय-विषय को छोड़कर फिर से दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-विषय में ही वह परिणमन करता है, और अतीन्द्रिय स्वभाव के प्रति अरुचिरूप द्वेष करता है। इसप्रकार मोही जीवों का त्याग वह सही त्याग नहीं परंतु वह तो राग-द्वेष गर्भित है।

निर्ममत्व चैतन्यस्वभाव की दृष्टि बिना शरीरादि का ममत्व नहीं छूटता है। चैतन्य के अनुभव बिना शरीर का ममत्व छोड़ने के लिये त्यागी हो तो भी उसे इन्द्रियों के विषय में त्याग-ग्रहण की बुद्धि तो रहती ही है, अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव तो उसने लक्ष में नहीं लिया है। यह बाह्य त्याग मुझे मोक्ष का कारण होगा—ऐसा उसे शरीर की दिगम्बर दशा आदि पर राग है। इसप्रकार जिसे आत्मा का अनुभव नहीं उसे शरीरादि की ममता का सच्चा त्याग नहीं होता है। बाह्य भोगों से निवृत्ति करके परमात्मपद में प्रीति करना थी, उसके स्थान पर शरीर को मोक्ष का साधन माना, इसलिये शरीर में ही उसने अपना अस्तित्व मानकर उसमें प्रीति की, शरीर से भिन्न चैतन्य का अस्तित्व नहीं जाना; और उसमें प्रीति नहीं की, इसलिये उस मोही जीव को त्याग का हेतु सिद्ध नहीं हुआ। बाह्य में त्यागी होकर भी जिसका त्याग करने का था उसकी तो उसने प्रीति की, तथा जिसकी प्राप्ति करनी थी उसे नहीं जाना, उसमें अरुचिरूप द्वेष किया।

बाह्य विषय-भोग छोड़कर व्रती हुआ, उस व्रत के पालन में जिसको कष्ट और दुःख लगता है उसके अभिप्राय में विषयों में सुखबुद्धि है। 'मैं तो ज्ञान ही हूँ, ज्ञान में ही मेरा अस्तित्व है, मेरे ज्ञानस्वभाव में ही मेरा सुख है तथा बाह्य विषयों में कहीं मेरा सुख नहीं'—ऐसा अनुभव करने पर शरीरादि में से सुखबुद्धि छूट जाती है। शरीर के साधन द्वारा चारित्र का पालन होगा—ऐसी जिसकी बुद्धि है उसका शरीर पर का ममत्व नहीं छूटा है। उसने विषय छोड़कर भी शरीर में ही ममत्वबुद्धि की है। जहाँ अंतर के चैतन्यतत्त्व का वेदन नहीं-आनन्द का

अनुभव नहीं वहाँ किसी न किसी प्रकार से बाह्य विषयों में ममता तथा सुखबुद्धि का जीव को वेदन होता ही रहता है, इसलिये उसे भोगों से सच्ची निवृत्ति नहीं होती।

अतः शरीरादि से भिन्न आत्मतत्त्व को जानकर उसमें प्रीति करना चाहिये। चैतन्य में प्रीति करके उसमें लीनता करने पर बाह्य भोगों से सहज ही निवृत्ति होती है तथा शरीरादि का भी ममत्व छूट जाता है।

***

जिनको शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं—ऐसे मोही जीव, आत्मा की क्रिया को देह में मिलाते हैं और देह की क्रिया को आत्मा में मिलाते हैं, उस बात को दृष्टांत से समझाते हैं:—

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥९१॥

एक अंधे मनुष्य के कंधे पर लंगड़ा बैठा है; वह लंगड़ा, आँख से मार्ग देखता है, और अंधा चलता है। चलने की शक्ति लंगड़े में नहीं तथा देखने की शक्ति अंधे में नहीं है। देखने की क्रिया तो लंगड़े की है और चलने की क्रिया अंधे की है—जो अंधे और लंगड़े के बीच का अंतर नहीं जानते; वे लोग लंगड़े की दृष्टि का अंधे में आरोप करके ऐसा मानते हैं कि यह लंगड़ा ही मार्ग देखकर चलता है।—उनका यह आरोप मिथ्या है, उनको पता नहीं कि मार्ग देखनेवाला तो ऊपर भिन्न बैठा है। इसीप्रकार यह शरीर तो ज्ञान बिना का अंधा-जड़ है, और आत्मा देखनेवाला है, परंतु शरीर की क्रिया करने के लिये पंगु है। शरीर के हलन-चलन को आत्मा जानता है, वह जानने की क्रिया आत्मा की है तथा शरीरादि गमन करने की क्रिया तो जड़ की है—परंतु जिनको जड़-चेतन के अंतर का पता नहीं, आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव नहीं—ऐसे अज्ञानी जीव, आत्मा के ज्ञान का शरीर में आरोप करके ऐसा मानते हैं कि यह शरीर ही जानता है—आँख से ही सब दिखाई देता है; इसलिये शरीर ही आत्मा है।—परंतु उनका यह आरोप मिथ्या है, उनको पता नहीं कि जाननेवाला तो शरीर से भिन्न है, शरीर कुछ भी नहीं जानता, जानने की क्रिया तो आत्मा की है।

तथा वह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि शरीर का हलन-चलन-बोलना, वह सब मेरी क्रिया है, मैं ही उस क्रिया का करता हूँ। परंतु शरीर का हलना-चलना-बोलना वह तो जड़ की क्रिया है, वह जड़-अंधा है; उसके पैर से (उसकी पर्याय से) हलता-चलता-बोलता है;

वे क्रियायें आत्मा से नहीं हुई; आत्मा ने तो उनको जानने की क्रिया की है। इसप्रकार जड़-चेतन की भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं। जड़-चेतन की क्रियाओं का ऐसा भेद-अंतर नहीं जाननेवाला अज्ञानी जीव, उन दोनों को एकरूप मानकर संसार में परिभ्रमण करता है।

***

[वीर संवत् २४८२ श्रावण कृष्णा सप्तमी, रविवार]

देखो, यह भेदज्ञान की बात हो रही है। जड़-चेतन की भिन्नता का जिनको ज्ञान नहीं, उनको कभी समाधि नहीं होती। आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसकी क्रिया तो जाननेरूप ही है। तथा शरीर जड़स्वरूप है, वह स्वयं हलन-चलन की क्रियावाला है परंतु उसमें देखने की क्रिया नहीं है। आत्मा तथा शरीर दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की क्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। शरीर ऊँचा-नीचा हो, व्यवस्थित पैर उठें, भाषा निकले, वे सब जड़ की क्रिया हैं, जड़ अंधा स्वयं गमन करता है, और वहाँ उस क्रिया का जो ज्ञान होता है; वह ज्ञान, आत्मा की क्रिया है। परंतु अज्ञानी कहते हैं कि 'मैंने शरीर की क्रिया की; मैं बोला, मैंने संभालकर पैर रखा।'—ऐसी भ्रमणा के कारण वह अज्ञानी, शरीरादि बाह्य पदार्थों में ही उपयोग की एकता करता है, परंतु शरीर से भिन्न आत्मा में उपयोग की एकता नहीं करता। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे मूढ़! जड़ तथा चेतन की क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं; तेरी क्रिया तो जाननेरूप है, शरीर की क्रियायें तेरी नहीं। इसलिये शरीरादि जड़ के साथ संबंध तोड़ तथा चैतन्यस्वभाव के साथ संबंध जोड़।

जड़-चेतन के भेदज्ञान के लिये यहाँ अंधे और लंगड़े का सरस दृष्टांत दिया है। अंधे में हलन-चलन करने की शक्ति है परंतु मार्ग देखने की शक्ति नहीं; उसके कंधे पर लंगड़ा बैठा है, उसमें जानने की शक्ति है परंतु शरीर को गमन कराने की शक्ति नहीं। अंधा गमन करता है और लंगड़ा देखता है। वहाँ गमन करने की क्रिया किसकी है?—अंधे की है। देखने की क्रिया किसकी है? लंगड़े की है। इसप्रकार दोनों की क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं। उसीप्रकार शरीर जड़-अंधा है, उसमें स्वयं हलन-चलन की शक्ति है, परंतु जानने-देखने की शक्ति उसमें नहीं है। उसके साथ एकक्षेत्रावगाह आत्मा रहा हुआ है, उसमें जानने-देखने की शक्ति है परंतु शरीर को गमन कराने की शक्ति नहीं है। शरीर उसके स्वभाव से ही हलन-चलन करता है, वह जड़ की क्रिया है तथा उसको जानना, वह आत्मा की क्रिया है।—इसप्रकार जड़-चेतन दोनों की भिन्न-भिन्न कियायें हैं। ऐसी भिन्नता को जो जाने, उसे शरीर से उपेक्षा होकर आत्म-समाधि होती है।

प्रश्नः—अंधे को तो कुछ मालूम नहीं, इसलिये लंगड़ा ही उसे मार्ग बतलाकर हलन-चलन करवाता है; इसलिये शरीर तो जड़ है, उसे कुछ पता नहीं, आत्मा ही उसकी क्रियायें करता है ?

उत्तरः—अरे भाई ! ऐसा नहीं है। अंधा उसके पैर से गमन करता है, कहीं लंगड़ा उसे गमन नहीं करवाता। उसीप्रकार शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, शरीर उसकी अपनी शक्ति से गमन करता है, उसमें ज्ञान नहीं होने पर भी वह स्वयं अपनी शक्ति से ही हलन-चलन करता है, आत्मा उसे गमन नहीं करवाता। आत्मा, शरीर की क्रिया करता है—ऐसा अज्ञान से ही प्रतिभासित होता है; तथापि शरीर की आँख द्वारा आत्मा देखता है—ऐसा भी अज्ञान से ही प्रतिभासित होता है। मैं तो ज्ञान हूँ और शरीर तो जड़ है; मैं तो जाननेवाला हूँ तथा शरीर अंधा है, मैं तो अरूपी हूँ और शरीर जड़ है—दोनों की क्रियायें अत्यंत भिन्न हैं—ऐसा भेदज्ञान, अज्ञानी जीव नहीं करता, तथा भेदज्ञान बिना जगत में कोई शरणभूत नहीं, कहीं पर शांति या समाधि नहीं है। अज्ञानी जीव, शरीर से भिन्न आत्मा के अनुभव बिना अनादि से अनाथ होकर रहा है। शरीर और आत्मा का संयोग देखकर एकता का भ्रम अज्ञानी को हो गया है, तथा इस कारण ही संसार में परिभ्रमण करता है। संयोग होने पर भी दोनों की क्रियायें भिन्न ही हैं—ऐसी जो भिन्नता पहिचाने तो वह देहबुद्धि छोड़कर आत्मा में एकाग्रता करे।—इसप्रकार आत्मा में एकाग्रता से समाधि-शांति होती है और भ्रवभ्रमण छूटता है ॥९१॥

शरीर और आत्मा का संयोग होने पर भी, भेदज्ञानी अंतरात्मा उनको भिन्न-भिन्न जानता है, यह बात अब ९२ वीं गाथा में कहेंगे।

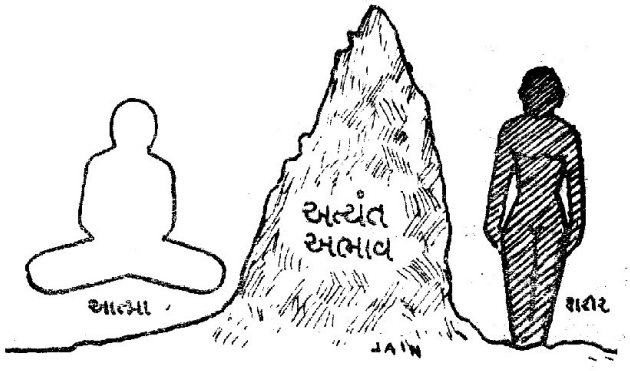

शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाही होने पर भी बीच में 'अत्यंत अभाव' रूपी महान् पर्वत है।

भेदज्ञान-पुष्पमाला

स्वामीजी को अति प्रिय ऐसा जो समयसार शास्त्र और उसमें भी विशेष प्रिय ऐसा कर्ताकर्म अधिकार, उसके प्रवचनों में से ८० प्रश्न-उत्तर की यह भेदज्ञान-पुष्पमाला गूँथकर आत्मधर्म में दे रहे हैं। —संपादक

(१) कौन-सी क्रिया बन्ध का कारण है ? और कौन-सी क्रिया मोक्ष का कारण है ?

— राग के कर्तृत्वरूप क्रिया बंध का कारण है; और ज्ञानमय ऐसी ज्ञप्ति-क्रिया मोक्ष का कारण है।

(२) कौन-सी क्रिया बंध-मोक्ष का कारण नहीं है ?

— जड़ की क्रिया।

(३) धर्मी जीव ज्ञान की क्रिया कब करते हैं ?

— निरंतर।

क्रिया और जैनधर्म

(४) अज्ञानी क्या नहीं देखता ?

— वह ज्ञान और क्रोध (-आस्रव) के भेद को नहीं देखता; अतः उनमें परस्पर जो लक्षण-भेद है, उसे अज्ञानी पहिचानता ही नहीं।

(५) जीव किसमें प्रवर्तन करे ?

— अपने ज्ञानभाव में ही आचरण करना चाहिये।

(६) जीव कहाँ प्रवर्तन न करे ?

— आस्रव-क्रोधादि परभाव में परिवर्तन न करे।

(७) कौन-सी क्रिया मोक्ष का कारण है ?

— ज्ञानभाव में प्रवर्तन करनेरूप ज्ञानक्रिया, वह मोक्ष की क्रिया है, मोक्ष का कारण है।

(८) जैनधर्म में क्रिया होती है ?

— हाँ, मोक्ष की सच्ची क्रिया जैनधर्म में ही होती है।

(९) वह कौन-सी क्रिया ?

— ज्ञान में प्रवर्तनरूप क्रिया, वह जैनधर्म की क्रिया है; परंतु रागादि में प्रवर्तनरूप

क्रिया, वह जैनधर्म की क्रिया नहीं है, किंतु वह तो अधर्म की क्रिया है; और देहादि की क्रियायें तो जड़ की हैं।

(१०) क्रिया के कितने प्रकार हैं ?

— (१) ज्ञान की क्रिया, (२) राग की क्रिया, (३) जड़ की क्रिया।

(११) उन तीन क्रिया के कर्ता कौन ?

— ज्ञान की क्रिया का कर्ता ज्ञानी है; रागादि आस्रव की क्रिया का कर्ता अज्ञानी है; जड़ की क्रिया का कर्ता जड़ है।

(१२) आत्मा जड़ की क्रिया का कर्ता कैसे नहीं है ?

— क्योंकि आत्मा जड़ नहीं है (जो जड़ हो, वही जड़ की क्रिया कर सकता है।)

(१३) ज्ञान राग का कर्ता है ?

— नहीं; क्योंकि ज्ञान स्वयं ज्ञान ही है, राग नहीं, अतः ज्ञान और राग भिन्न हैं।

(१४) जीव को मोक्षमार्ग का प्रारंभ कब होता है ?

— भेदज्ञान के द्वारा अपने ज्ञानस्वभाव को समस्त रागादि परभावों से पृथक् अनुभव करे तब।

(१५) मोक्षमार्ग में कौन-सी क्रिया का निषेध है ? कौन-सी क्रिया की स्वीकृति है ?

— राग के कर्तृत्वरूप करोतिक्रिया का मोक्षमार्ग में निशेध है, ज्ञानक्रिया का स्वीकार है।

(१६) ज्ञानक्रिया का मोक्षमार्ग में निषेध क्यों नहीं ?

— क्योंकि ज्ञानक्रिया तो जीवद्रव्य-गुण के साथ अभेद होती है, अतः उसका त्याग-निषेध नहीं हो सकता, ज्ञान की क्रिया तो स्वभावभूत ही है।

(१७) क्रोधादिभाव और ज्ञान, उनके कर्ता कितने हैं ?

— उनके दो कर्ता हैं, एक ही कर्ता नहीं।

(१८) दो कर्ता किसप्रकार ?

— क्योंकि कार्य दो हैं, इसलिये कर्ता भी दो हैं।

(१९) दो कार्य कौन-कौन हैं ?

— (१) ज्ञानरूप कार्य, (२) क्रोधरूप कार्य—इसप्रकार दोनों कार्य भिन्न-भिन्न हैं।

और दो कार्य भिन्न होने से उनके कर्ता भी भिन्न हैं।

(२०) उन दो कार्यों के दो कर्ता कौन-कौन हैं ?

— ज्ञान का कर्ता ज्ञानी है; क्रोधादि (आस्रवतत्त्व का) कर्ता अज्ञानी है।

(२१) इन दो कर्ता को जानने से क्या होता है ?

— ज्ञान और क्रोधादि के बीच भेदज्ञान होता है।

(२२) अज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान क्यों नहीं होता ?

— कारण कि वह दो-कर्ता न मानकर, एक ही कर्ता मानता है। ज्ञान और क्रोध उन दो विरुद्ध कार्यों का मैं ही एक कर्ता हूँ—इसप्रकार अज्ञानी मानता है, अर्थात् वह ज्ञान को और क्रोधादि को एक ही मानता हुआ वर्तता है, इसलिये उसे भेदज्ञान नहीं होता।

(२३) ज्ञान की महिमा क्या है ?

— ज्ञानभाव और क्रोधभाव—इन दोनों भावों को अतिस्पष्ट भिन्न जान लेता है, और क्रोध का कर्तृत्व छोड़कर उनसे भिन्न परिणमन करता है—वह ज्ञान महिमावंत है; अत्यंत धीर-शांत-निराकुल है।

(२४) जीव ज्ञानी कब होता है ?

— जब ज्ञान और राग का अत्यंत भिन्नत्व जानकर अपने को ज्ञानरूप ही अनुभव करता है और राग का कर्तृत्व छोड़ता है—तब वह जीव ज्ञानी होता है।

(२५) अज्ञानी पर का कर्ता है ?

— नहीं; अज्ञानी भी मात्र अपने रागादि भावों का ही कर्ता है।

(२६) ज्ञानी राग के कर्ता हैं ?

— नहीं, ज्ञानी निजज्ञानभाव के ही कर्ता हैं; व्यवहार से राग के ज्ञाता तो हैं, किन्तु कर्ता नहीं हैं।

(२७) अधर्मी जीव किसको भिन्न नहीं देखता ?

— ज्ञान और राग को भिन्न न देखकर अभिन्न देखता है।

(२८) धर्मी जीव किसको भिन्न देखता है ?

— ज्ञान और क्रोधादि को भिन्न-भिन्न देखता है, उसे एकमेक-तन्मय नहीं देखता।

(२९) अज्ञानी जीव किसको भिन्न नहीं देखता ?

— ज्ञान और राग को भिन्न नहीं देखता, उसे एक मानता है।

(३०) संयोगसिद्ध-संबंध किनको होता है ?

— दो भिन्न वस्तुओं के बीच संयोगसिद्ध-संबंध होता है। आत्मा और क्रोधादि को ऐसा संबंध है।

(३१) स्वभावसिद्ध-संबंध (तादात्म्य-संबंध) किनको होता है ?

— गुण-गुणी के बीच (अथवा धर्म और धर्मी के बीच) एकतारूप तादात्म्यसिद्धसंबंध है; ज्ञान और आत्मा को एकतारूप तादात्म्यपना है; उनके बीच भेद नहीं है, पृथक्ता नहीं है, संयोग नहीं है।

(३२) मोक्ष का कारण क्या है ?

— ज्ञान और राग के बीच का भेदज्ञान मोक्ष का कारण है।

(३३) संसार-बंधन का कारण क्या है ?

— ज्ञान और राग के बीच कर्ता-कर्मबुद्धिरूप अज्ञान, वह संसार का कारण है।

(३४) महिमावंत कौन है ?

— राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव को जाननेवाला ज्ञान महिमावंत है।

(३५) आत्मा किसमें प्रकाशित होता है ?

— आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया में ही प्रकाशित होता है।

(३६) क्रोधादि परभावों में कौन प्रकाशित होता है ?

— उनमें अज्ञान प्रकाशित होता है; अज्ञान से क्रोधादि का कर्तापन है।

(३७) ज्ञान और राग में कर्ता-कर्मपना है ?

— नहीं।

(३८) राग और परद्रव्य में कर्ताकर्मपना है ?

— नहीं।

(३९) ज्ञान क्या करता है ?

— रागादि को जानता है, परंतु उन्हें करता नहीं है।

(४०) ज्ञान रागादि को करे तो क्या हो ?

— तो वह राग में तन्मय हो जाये, जिससे अज्ञान हो।

(४१) अज्ञान कब मिटता है ?

— लक्षण-भेद द्वारा आत्मा को राग से भिन्न जाने तब।

(४२) धर्मलब्धि का अवसर कब कहा जाता है ?

— जब भेदज्ञान करके स्वसन्मुख हो, तभी धर्मलब्धि का अवसर है।

(४३) जीव पुण्य-पाप के कर्तृत्व से कब निवृत्त होता है ?

— जब अपना उनसे भिन्न ज्ञानस्वभावरूप अनुभव करे तब।

(४४) जीव अपने को कब ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है ?

— जीव पुण्य-पाप के कर्तृत्व को छोड़कर अंतरोन्मुख हो तब।

(४५) पहले कर्तृत्व छूटता है या पहले ज्ञान होता है ?

— दोनों एक साथ ही होते हैं।

(४६) पुण्य-पाप छोड़कर आत्मा का अनुभव हो सकता है ?

— हाँ; अनंत जीवों ने ऐसा अनुभव किया है, और वर्तमान में भी हो सकता है।

(४७) पुण्य के बिना—शुभ के बिना आत्मा जी सकता है ?

— हाँ, सिद्ध भगवान पुण्य के बिना ही आनंद सहित जी रहे हैं, मुनि भी जब शुभोपयोग छोड़कर शुद्धोपयोग में लीन होते हैं, तब परम आनंद का अनुभव करते हैं। उसप्रकार का थोड़ा अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी हो सकता है। पुण्य या शुभराग कहीं आत्मा का जीवन नहीं है, वह कहीं आत्मा का प्राण नहीं है; चैतन्यभाव ही आत्मा का जीवन है।

(४८) आत्मा के ऐसे उपदेश से किसे लाभ होता है ?

— जो जीव इसे समझेंगे, उन्हें लाभ होगा।

(४९) ज्ञान को राग के साथ अविनाभाव है ?

— नहीं है।

(५०) तो फिर ज्ञान को किसके साथ अविनाभाव है ?

— ज्ञान को राग की निवृत्ति के साथ अविनाभाव है। सच्चा भेदज्ञान तो राग से विमुख है; राग के कर्तृत्व में लगा हुआ ज्ञान, वह सच्चा ज्ञान नहीं है, अज्ञान है।

(५१) मुमुक्षु जीव को सर्वप्रथम क्या करना चाहिये ?

— ज्ञान और राग की भिन्नता को लक्ष में लेना चाहिये।

(५२) ज्ञान और राग का भेदज्ञान होने से क्या होता है ?

— भेदज्ञान होने पर ज्ञान आस्रवों से निवर्तता है।

(५३) आस्रवों से निवर्तन का क्या अर्थ है ?

— आस्रवों से निवर्तना अर्थात् ज्ञानस्वभाव की ओर झुकना; ज्ञान-ज्ञान में ही एकत्वरूप से वर्ते और रागादि में एकत्वरूप से वर्तन न करे, उसे आस्रवों से निवर्तन कहा जाता है।

(५४) राग में एकरूप वर्ते, वह ज्ञान कैसा है ?

— उसे अज्ञान कहते हैं।

(५५) ज्ञानी का ज्ञानभाव कैसा है ?

— ज्ञानी का ज्ञानभाव राग या बंधरहित है; वह मोक्ष का कारण है।

(५६) सम्यक्त्व से पूर्व तत्त्वनिर्णय के अभ्यास से क्या होता है ?

— सच्चे निर्णय के अभ्यास से मिथ्यात्व का रस मंद पड़ता जाता है। विकल्प होने पर भी 'ज्ञान में' सत्यस्वरूप के मंथन द्वारा मिथ्यात्व टूटता जाता है। विकल्पों का जोर न देकर ज्ञान पर जोर देना चाहिये।

(५७) जिनशासन का अर्थ क्या ?

— जिसे जानने से अवश्य मुक्ति हो, वह जिनशासन है।

(५८) किसे जानने पर अवश्य मुक्ति होती है।

— आत्मा के शुद्ध ज्ञानानंदस्वभाव को शुद्धनय से जो देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है और उसकी अवश्य मुक्ति होती है।

(५९) राग, वह जिनशासन है या नहीं ?

— नहीं; राग, वह जिनशासन नहीं है, तथा मात्र राग की ओर का ज्ञान भी जिनशासन नहीं है।

(६०) तो जिनशासन क्या है ?

— अंतर्मुख भावश्रुतज्ञान द्वारा जो यह शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है। इसप्रकार शुद्ध आत्मा ही जिनशासन है।

(— शेष अगले अंक में)

जीव पर के कार्य में निमित्त (-व्यवहार) कर्ता भी नहीं है

(समयसार गाथा १०० पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन) [तारीख ३-७-६९]

[जीव है, सो घट-पटादि किसी भी परद्रव्य के कार्य का कर्ता नहीं है, किंतु जो निमित्ताधीन कार्य मानते हैं, तथा जिन्हें संयोग में एकताबुद्धि है, वे अज्ञानी जीव अज्ञानदशा में मैं पर का कार्य होने में निमित्तकर्ता हूँ—ऐसा मानते हैं। इस अपेक्षा उस जीव की योग-कषायरूप पर्याय परद्रव्य की पर्याय में निमित्तकर्ता अर्थात् व्यवहारकर्ता है; किंतु वास्तव में कर्ता नहीं है।]

वास्तव में निश्चय से (यथार्थतया) जो घट, वस्त्र, दाल-भातरूप बाह्य अवस्था होती है तथा अंतरंग में ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म की अवस्था (-पर्याय) होती है, वह उस-उस पुद्गलद्रव्य के कारण से ही होती है, उसमें जीवद्रव्य या अन्य कारण नहीं हो सकते। यहाँ क्रोधादि अंतरंग कर्म को परद्रव्यरूप द्रव्यकर्म, और शरीर-घट-पटादिक को नोकर्म कहा है। प्रत्येक द्रव्य सदा अपने परिणामरूप कार्य को करते हैं। व्याप्य-व्यापकभाव तो परद्रव्यरूप कार्य—पर की क्रिया जो घट-पट-रथ, लेखन, दाल-भात आदि कार्य, उनका जीवद्रव्य कर्ता नहीं है। ऐसा नहीं है कि—परद्रव्य परिणामी और स्व-परिणाम उसका कर्म (-कार्य); कारण कि जो कार्य के साथ तन्मय हो, वही उसका कर्ता है, ऐसा नियम है। यदि निमित्तरूप से व्यवहारकर्ता के रूप में आत्मा परद्रव्य की क्रिया को कर सकता हो तो नित्य कर्ता बनने का प्रसंग हो अर्थात् तीनों काल परद्रव्य के कार्य के समय उसको कर्ता बनना ही पड़ेगा, किंतु ऐसा नहीं है। द्रव्य तो त्रैकालिक होने से पर में व्यवहारकर्ता मानने से चारों गति में भव-भ्रमण कर-करके पर के कार्य में निमित्तरूप से उपस्थित रहना ही पड़ेगा। निमित्तकर्ता जीवद्रव्य हो तो नित्य रागादि इच्छा और योगरूप विकार करना ही पड़ेगा, किंतु ऐसा नहीं है। द्रव्य तो रागादि विकल्पों से सदा भिन्न है। अतः रागादिरूप परिणमन करे, ऐसा त्रैकालिक जीवद्रव्य का स्वभाव नहीं है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध द्रव्यों को नहीं होता, किंतु दो द्रव्यों की अनित्य पर्याय में होता

है, फिर भी निमित्तकर्ता का अर्थ वास्तव में कर्ता नहीं है। अब पर के कार्य में जीव की योग और उपयोग अवस्था को अज्ञानदशा में निमित्तकर्ता मानते हैं; उपादानकर्ता तो स्वयं कार्यरूप से परिणत होता है, वह तो निश्चय कर्ता है, अतः उपादान में कार्य हो तो दूसरी संयोगरूप अवस्था को व्यवहार कारण-निमित्तकर्ता का आरोप आता है।

जीव पर के कार्य में व्यवहारकर्ता अर्थात् निमित्तकर्ता नहीं है, ज्ञाता है; इसलिये द्रव्य और द्रव्यदृष्टि दोनों परद्रव्य को क्रिया के कर्ता नहीं हैं। करानेवाले भी नहीं हैं, तब व्यवहार की—राग की रुचिवान जीव कर्ता बनने जाता है। परद्रव्यस्वरूप कार्य (कर्म) का निमित्तकर्ता आत्मद्रव्य तो नहीं है, व्यवहारकर्ता का आरोप जीव द्रव्य को लागू नहीं पड़ता, किंतु कदाचित् कर्ता अर्थात् अज्ञानी निज परिणाम का निश्चय से कर्ता है; अपनी पर्याय में योग और इच्छा शुभाशुभ कषाय का कर्ता और स्वामी वह बनता है, वह मानता है कि मैं व्यवहार से परद्रव्य की अर्थात् देहादि, रागादि क्रिया सहित हूँ, उनका कर्ता हूँ। उस अज्ञानी की दृष्टि संयोग में एकता मानने की होने से वह परद्रव्य की क्रिया का मैं निमित्तकर्ता हूँ, ऐसा मानता है। इसलिये योग-उपयोगरूप विकार में कर्तृत्व अपेक्षा वह पर की क्रिया का व्यवहार-निमित्तकर्ता है। घट-पट-पुस्तक आदि तथा द्रव्यकर्म अपनी शक्ति से स्वकाल में होते हैं, उस समय ज्ञानी जीव को स्व की ओर दृष्टि होने से परवस्तु तथा पर की क्रियारूप पर परिणाम ज्ञान में ज्ञेयरूप निमित्त हैं। स्व को जानते हुए पर को जानता है, पर को पररूप जाननेवाला अपने ज्ञानरूप वर्तता है, इसलिये अपने ज्ञान में वह निमित्त है और ज्ञान हुआ वह नैमित्तिक है।

ज्ञानी पर्याय अपेक्षा भी परद्रव्य की क्रिया में निमित्तकर्ता नहीं है, किंतु ज्ञाता है। जो समयसार बंध-अधिकार गाथा २५१-५२ की जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका में ज्ञान की मुख्यता से कहा है कि निचली भूमिका में ज्ञानी को पर के विषय में मारने, जिलाने, सुखी या दुःखी करने का प्रमादवश (हेयबुद्धि सहित) विकल्प-राग आता है, तब प्रमाद अपनी पर्याय में दोष है, ऐसा जानकर सामनेवालों की क्रिया जो नैमित्तिक, उसके निश्चय कारण से हुई है, उसमें मैं तो निमित्तमात्र हूँ। सामने जो हुआ, वह उसकी स्वकाल की क्रमबद्ध योग्यता से हुआ है, उसमें जो शुभाशुभ कर्म का निमित्त है, वह भी उसके कारण से है और मुझे कर्ताबुद्धि सहित राग आया, उसका व्यवहार से ज्ञाता हूँ, किंतु मैं पर के कार्य का कर्ता तो व्यवहार से भी नहीं, 'मात्र निमित्त हूँ' ऐसा, वहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

ज्ञानी को ज्ञेय-ज्ञायकसंबंधरूप व्यवहार है।

अज्ञानी पर्यायदृष्टिवान होने से उसकी दृष्टि परस्वरूप की ओर झुक रही है, इसलिये उसके निमित्तकर्तारूप मिथ्याप्रतिभास को व्यवहार कहा है।

भेदज्ञान द्वारा तत्त्व की समझ करना सुखी होने का प्रथम उपाय है। घट के काल में घट पर्याय होगी ही, रोटीरूप अवस्था उसके समय पर होगी ही, क्रमबद्ध वह उसके स्वकाल से है। पर के किसी भी काम में जीवद्रव्य कर्ता नहीं है। तीन बातें हैं—

(१) ज्ञानी हो या अज्ञानी, द्रव्यदृष्टि से पर के कार्य में कोई व्यवहारकर्ता भी नहीं है, (२) यदि द्रव्य निमित्त से (व्यवहार से) कर्ता हो तो द्रव्य तीनों काल होने से पर के कार्य में त्रिकाल उपस्थित होना ही पड़े, अतः ऐसा नहीं है।

तब क्या है ? कि अज्ञानी स्व को भूलकर पर्यायदृष्टि में राग और योग का कर्ता बनता है, इस अपेक्षा पर के परिणाम में निमित्तकर्ता (-व्यवहार से मैं कर्ता) हूँ, ऐसा मानता है। (३) भेदज्ञानी आत्मा योग-कषाय कार्य का कर्ता नहीं है, स्वामी नहीं है; क्योंकि स्वभाव में विभाव नहीं है। ऐसा होने से ज्ञानी को परज्ञेय के परिणाम ज्ञान होने में निमित्त होते हैं, ज्ञान निश्चय से स्व से होता है। उसमें पर के परिणाम ज्ञेयरूप निमित्त हैं और ज्ञान नैमित्तिक है, तथा ज्ञेय को ज्ञेयरूप प्रसिद्ध करनेवाला ज्ञान है; इस अपेक्षा ज्ञान निमित्त है। इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायकरूप संबंध अनिवार्य है, यह वस्तुस्थिति है।

पर के परिणाम में ज्ञानी निमित्त नहीं है किंतु प्रमादवश राग-विकल्प आता है कि 'मैं पर को सुख-दुःख दूँ', किंतु ज्ञानी पर की क्रिया और राग में कर्ता नहीं बनता; मात्र जानता है कि प्रमाद अपेक्षा मैं पर के कार्य में निमित्तमात्र हूँ। ऐसा जानना वह व्यवहार है। निमित्तकर्ता नहीं है। और ऐसा ज्ञान है, इसलिये मैं निमित्त हूँ या राग है, इसलिये मैं निमित्त हूँ—ऐसा नहीं किंतु अपने दोष को दोषरूप स्वीकार करना ज्ञेयरूप और हेयरूप जानना, ऐसा व्यवहार है।

सामनेवाले जीव को जो परिणाम-कार्य हुआ, उसका उपादानकारण-निश्चयकर्ता तो वह है, ज्ञानी को तो राग आया है किंतु राग को निमित्तकर्ता न मानकर ज्ञेयरूप से जानते हैं; और सामने जो कार्य हुआ, वह उसके कारण से हुआ है, किंतु प्रमाद अपेक्षा मैं निमित्तमात्र हूँ, वास्तव में पर का कर्ता नहीं हूँ। यह ज्ञानप्रधान कथन है।

सर्वज्ञभगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा वस्तु का स्वतंत्र स्वभाव तीनों काल ऐसा जाना है।

ज्ञानी अल्पज्ञ भी भेदज्ञान द्वारा ऐसा ही जानता है, किंतु स्व-पर स्वभावों की स्वतंत्रता का भान नहीं है, वह बाह्य में—कर्तापन में धर्म मानता है। संयोग-दृष्टिवान बाह्य में पुण्य-पाप के संयोग में ही भला-बुरा मानता है, संयोग में ही तीव्र आकुलता द्वारा दु:ख और मंद आकुलता द्वारा सुख मानता है। ज्ञानी जीव संयोग को देखकर भेदज्ञानसहित विचार करते हैं कि अहो! एक समय के प्रमाद या शुभभाव का यह फल है। नववें ग्रैवेयक स्वर्ग का संयोग हो या नारकी का संयोग हो, कोई पदार्थ भले-बुरे नहीं हैं, न मैं कुछ करने-करानेवाला हूँ। आत्मा के किंचित् शुभराग का फल स्वर्ग के पुण्य का बड़ा ढ़ेर है तो निजशुद्धात्मोन्मुखता से होनेवाले शुद्धपरिणाम की तो क्या बात!!! इसप्रकार अंतर्मुख द्रव्य में एकत्व की दृष्टि हो तो सम्यग्दर्शन होता है।

पर्यायबुद्धि ऐसे आत्मा की पर्याय में योग-कंपन और कषाय हैं; वह क्रोधादिक द्रव्यकर्म को तथा शरीर-घटादि नोकर्म की पर्याय अपेक्षा निमित्त है; वास्तव में पर का कुछ करनेवाला कोई नहीं है, किंतु व्यवहारकर्ता अर्थात् अयथार्थ दृष्टि अपेक्षा कर्ता है, कारण कि निश्चयकर्ता तो वह परद्रव्य ही है, इस सिद्धांत द्वारा यह समझना कि—सम्यग्दृष्टि आत्मा व्यवहार से पर को पररूप जानता है; किंतु व्यवहार से पर्याय अपेक्षा भी पर के कार्य का कर्ता नहीं है। मात्र अज्ञानदशा में विभाव का स्वामी होने से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा गया है। द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी भी परद्रव्य की पर्याय में कर्ता तीन काल-तीन लोक में नहीं हैं। अज्ञानी जीव द्रव्य भी पर के कार्य में निमित्तकर्ता नहीं है किंतु उसे पर्याय में योग-कषायरूप उपयोग है, उसे करनेयोग्य मान रहा है तथा उसे अपना स्वरूप मानता है, इसलिये पर द्रव्यस्वरूप क्रिया में वह निमित्तकर्ता अर्थात् व्यवहारकर्ता है, ऐसा आरोप अज्ञानी को आता है।

अरे! पर का काम करे कौन! एक रजकण-परमाणु या स्कंध या अन्य जीव का कोई भी कार्य अन्य के द्वारा कभी नहीं होता, न निश्चय से परवस्तु कर्ता हो सकती है; न निमित्त अर्थात् व्यवहार से कर्ता है; प्रत्येक द्रव्य में परिणमन करने की शक्ति सदा है, उसे दूसरा कौन करे? मात्र अज्ञानदशा में स्व-परस्वरूप के ज्ञान में मूढ़जन मानते हैं कि पर के कार्य में मेरा योग और कषाय निमित्तकर्ता है, अत: उस अज्ञानी के उस मिथ्या प्रतिभास को अभूतार्थ-व्यवहारकर्ता कहा है किंतु समझना कि ऐसा नहीं है किंतु निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ऐसी कथन-पद्धति है।

एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य निमित्त नहीं है। एक गुण में कोई गुण निमित्त नहीं है, किंतु एक द्रव्य के वर्तमान परिणाम के समय दूसरा द्रव्य का वर्तमान परिणाम निमित्त देखकर उसे अर्थात् अज्ञानी को व्यवहारकर्ता-निमित्तकर्ता ऐसा उपचार से कहने में आता है। ज्ञानी अपनी निर्मल पर्याय का कर्ता है किंतु पर की क्रिया का कर्ता व्यवहार से भी नहीं है। ज्ञानी स्वद्रव्य-गुण-पर्याय में वर्तताा है, पर्याय अपेक्षा अपने परिणमन को करता है, इसलिये परद्रव्य की पर्यायरूपी किसी कार्य में वह निमित्त है, कर्ता है, ऐसा नहीं है। स्व-पर्याय स्व में है, पर की पर्याय निमित्त है, पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से मैं पर में कुछ कर सकता हूँ, ऐसी व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय (-क्रिया) में निमित्तकर्ता-व्यवहार से कर्ता है, ऐसा अज्ञानी मानता है, किंतु परमार्थ से—निश्चय से प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का ही कर्ता है, पर की पर्यायरूप क्रिया का कर्ता किंचित् भी नहीं है, ऐसा त्रिकाल अबाधित नियम जानकर भगवान आत्मा में एकाग्रदृष्टि करके निजपद शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप है, ऐसी जिसे प्रतीति हुई, वह जीव पर्याय अपेक्षा भी पर का कर्ता-भोक्ता और निमित्त नहीं है। पर को जानना, वह व्यवहार ज्ञेय-ज्ञायकत्व है, किंतु पर का मैं कुछ भी कर सकता हूँ—ऐसा तीन काल में भी नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करना भगवान ने बतलाया है।

अंधकार और प्रकाश

सूर्य अंधकार को पैदा नहीं करता, मात्र साबित करता है कि वह अपने स्थान पर है; सूर्य प्रकाशरूप ही है, अंधकाररूप नहीं है। जब ऐसा है, तब उसमें निश्चय से अंधकार का ग्रहण-त्याग कैसे ? जो प्रकाशरूप है, वह व्यवहार से भी अंधेरे का ग्रहण-त्याग या रक्षण कैसे करे ? इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य के स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में पर चतुष्टय नहीं है, तीन काल में ऐसा है, तब पर का कर्ता-हर्ता आदि संबंध निश्चय से या व्यवहार से कैसे माना जाये ? अंधकार हटाना नहीं पड़ता, प्रकाश होते ही उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान (अज्ञान-अंधेरा) उत्पन्न ही नहीं होता, उसी का नाम त्याग है।

निमित्त-राग में—पुण्य में रुचिरूप व्यवहार का पक्ष तो जीव को अनादि से है ही, यह कोई नई बात नहीं है। पूर्वपक्ष कहता है कि—प्रथम बंधमार्ग चाहिये, समयसार नहीं; प्रथम तो शुभराग द्वारा हित (-धर्म) होता है; राग-निमित्त-व्यवहार-संयोग चाहिये; पराश्रय किये बिना कल्याण नहीं होगा; आज किसी को निश्चयधर्म जरा भी नहीं होता, निश्चयधर्म तो ८वें या १२वें गुणस्थान से होता है, अतः प्रथम अकेला व्यवहार चाहिये;—ऐसा अनादिरूढ़ प्रौढ़ विवेकवान निश्चय में सर्वथा अनारूढ़, व्यवहार में विमोहित अर्थात् राग की रुचिरूप व्यवहार-(निमित्त) का पक्ष है, जो जीव को अनादि से है ही। किंतु स्वाश्रय-निश्चय-भूतार्थ स्वभाव का सम्यक् प्रकार आश्रय किये बिना (पराश्रय-व्यवहार) निमित्त का पक्ष कभी मिटनेवाला नहीं है। मैं वास्तव में पर का कुछ कर सकता हूँ, यह वासना संयोग अर्थात् दो द्रव्यों में एकताबुद्धि में से उठती है। जहाँ तक जीव को पराश्रय की रुचि है, संयोगदृष्टि है, परसन्मुखता में प्रेम है, स्वाश्रय अर्थात् स्व-सन्मुखता में प्रेम नहीं है, तब तक पाप से सुख और पुण्य करने से धर्म (हित) होता है, ऐसी मान्यता उसे होती ही है। उसमें ज्ञातास्वभाव की अरुचि और रागादि में कर्तापन की रुचि होती ही है। अनादिकालीन मिथ्या-प्रतिभासवश राग और संयोग की रुचि द्वारा जो-जो अभिलाषायें तथा धर्म के नाम पर विवाद होते हैं, वह सब क्लेश, सर्वज्ञवीतराग कथित नयविभाग को समझने से (मिटाना चाहे तो) मिटा सकते हैं। इसके लिये आचार्यकल्प श्री पंडित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक अवश्य पढ़नेयोग्य है। जयपुर (खानियां) तत्त्व-चर्चा भी (जिज्ञासु हो उसे) पढ़ने योग्य है।

ज्ञानी के हृदय में परमात्मा का निवास है

मुनियों के मन में कौन निवास कर रहा है ? अहा, मुनियों के ज्ञान में अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ संपूर्ण आत्मतत्त्व निवास कर रहा है।

मुनियों के मन में सर्वज्ञ भगवान (परम पद) निवास कर रहे हैं, राग उनके मन में निवास नहीं करता और न ही देह की क्रिया उनके ज्ञान में निवास करती है।

तुझे मुनि के जीवन जैसा बलवान सुखमय जीवन प्राप्त करना हो तो तू अपने ज्ञान में शुद्ध आत्मा का प्रवेश करा दे और रागादि को ज्ञान में से सर्वथा बाहर निकाल दे। मुनियों के ज्ञान में रहा हुआ यह नित्य सुखस्वरूप भगवान आत्मा का सुख विषय-सुख में लीन ऐसे जीवों को सर्वथा दुर्लभ है। जिनके मन में विषयों का निवास है, उनके मन में परमात्मा का निवास कहाँ से हो ?

मुनियों के समान साधक धर्मात्माओं ने भी अंतरंग में अपने शुद्ध आत्मा को ठहराया (स्थापित किया) है और रागादि परभाव तो उनके ज्ञान से भिन्न रह गये हैं। गृहस्थ धर्मात्मा ने मन में (रुचि में, ज्ञान में) घर नहीं बसाया किंतु चेतन भगवान को बसाया है।

ऐसा जीवन धर्मी का जीवन है। जिनके हृदय में राग की रुचि विषय-कषायों का निवास और पुण्य की अभिलाषा रहती है, उनके हृदय में भगवान शुद्ध आत्मा नहीं रहता अर्थात् वह भगवान के मार्ग में आया ही नहीं, विषय-कषायरूपी परभाव में लिप्त ऐसा जीवन सच्चा जीवन नहीं है। जिसने अपने हृदय में विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धा-ज्ञान को शुद्ध करके परमआत्मतत्त्व को बसाया है, वहाँ जीवन पलट जाता है, और सुख का समुद्र अंतर में उछलने लगता है। ऐसा जीवन धर्मी जीता है, वही सच्चा जीवन है।

(नियमसार-प्रवचन से)

आत्मा का व्यापार... आत्मा की क्रिया

आत्मा के लाभ का धंधा अर्थात् लाभ का व्यापार क्या है ? और आत्मा के हित की वास्तविक क्रिया तथा उसका साधन क्या है, उसे यहाँ सुगम शैली में समझाते हैं।

हे जीव! तू ऐसा विचार कि मुझे अपने आत्मा का व्यापार करना है, बाहर का नहीं। बाह्य व्यापार आत्मा में नहीं है। जिस व्यापार से अर्थात् जिसमें उपयोग को एकाग्र करने से आत्मा को आनंद का लाभ मिलता है, ऐसा व्यापार मुझे करना है। बाह्य में उपयोग लगाते-लगाते तो अनंत काल बीत गया, परंतु आनंद नहीं मिला, इसलिये हे जीव! अब अपने उपयोग को अंतर में लगा। भाई, तेरी चैतन्य-वस्तु की अपार महिमा है। अंतर में दृष्टि करके अपनी चैतन्य-वस्तु को देख तो सही! अरे! स्वयं अपने को न देखे, यह कैसी बात है! जो चैतन्य-वस्तु को नहीं देखते, वे वास्तव में आत्मा को नहीं मानते।

— जो शरीरादि अजीव के साथ आत्मा को कर्ता-कर्मपना मानते हैं, वे अजीव के साथ आत्मा की एकता मानते हैं अर्थात् आत्मा को अजीव मानते हैं।

— जो रागादि विकार के साथ आत्मा को कर्ता-कर्मपना मानते हैं, वे आत्मा तथा आस्रव को एक मानते हैं अर्थात् आत्मा को अशुद्ध ही मानते हैं।

— आत्मा में क्रियाशक्ति है, यह सही, परंतु वह शक्ति ऐसी नहीं कि जड़ की क्रिया को करे। इस क्रियाशक्ति से तो आत्मा अपने स्वभावभूत कारकों का अनुसरण करके निर्मल भावरूप परिणमता है। उस निर्मलभाव के साथ आत्मा का एकत्व है अर्थात् उसी में कर्ता-कर्मपना है।

इसीप्रकार कर्ता-कर्म की भाँति साधन में भी समझना चाहिये। जो जड़ की क्रिया को अपनी पर्याय का साधन मानते हैं, वे आत्मा को जड़ से भिन्न नहीं जानते; जो शुभराग की क्रिया

को अपनी ज्ञानपर्याय का साधन मानते हैं, वे आत्मा को राग से भिन्न नहीं जानते।

जड़ तथा विकारी राग को अपने धर्म का साधन मानने पर कितनी महान गंभीर भूल होती है, उसका अज्ञानी को पता नहीं। भाई! जड़ तथा विभाव को आत्मा का साधन मानने से तेरी मिथ्या-मान्यता में संपूर्ण आत्मा ही जड़रूप तथा विभावरूप हो जाता है तथा अनंत गुण के निर्मल स्वभाव का निषेध हो जाता है, यह कैसी महान भूल है। जो चेतनस्वभाव को जड़ तथा विभाव से भिन्न मानते हैं, वे जड़ या विभाव को अपना साधन नहीं मानते हैं। क्योंकि साधन भिन्न नहीं होता; अपना साधन अपने से अभिन्न होता है।

अहो, यह तो अपने आत्मा के लिये अंतर में शांति से समझने की बात है तथा इसे समझने का फल सादि-अनंत आनंद है। महान आनंद की क्या बात। यह आनंद आत्मा में से प्रगट हुआ है, इसलिये अब निरंतर आत्मा उस आनंद में ही मग्न रहेगा। दु:ख का अभाव हुआ, वह ऐसा अभाव हुआ कि पुन: कभी दु:ख उत्पन्न नहीं होगा। जिसकी प्रतीति का ऐसा महान फल हो, उस आत्मस्वभाव की महिमा की क्या बात। ऐसे आत्मा का अनुभव करने से सम्यक्त्वादि अमृत प्रगट होता है तथा अनादि का विष उतर जाता है।

सुखी होना हो, उसके लिये यह एक ही मार्ग है, शेष तो सब दु:खी होने के मार्ग हैं। भगवान ने जिस मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया, वह यही मार्ग है। संतों ने अपने अंतर में अनुभव किया, यह मार्ग जगत को बतलाया है कि हे जीवो! नि:शंकरूप से इस मार्ग पर चले आओ। यह भगवान के घर की बात है, भगवान के घर का यह वैभव है, तथा आत्मा को भगवान बनाने की यह विधि है। अहा, वीतरागी संतों ने अंतर में अपना कार्य तो किया और वाणी में भी अलौकिक कथन आया है। यह जगत का महान भाग्य है। ('आत्म वैभव' गुजराती से)

साधक को शुद्ध आत्मा ही मुख्य है

वस्तु नित्य-अनित्यस्वरूप है; नय द्वारा उसका ज्ञान करने के लिये अथवा कथन करने के लिये उसके धर्मी को मुख्य-गौण किया जाता है, परंतु शुद्ध आत्मा को साधने के लिये तो शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही सदा मुख्य है, वही निश्चय है, उसी का अवलंबन है। शुद्ध स्वभाव के ही अवलंबन से शुद्धता प्रगट होती है, इसलिये वही मुख्य है; और रागादि भेदों के अवलंबन से शुद्धता नहीं होती, इसलिये वे गौण हैं—व्यवहार हैं। मोक्ष का कारण पर्याय है, परंतु वह पर्याय स्वयं पर्यायसन्मुख नहीं देखती, वह तो अंतर्मुख होकर शुद्धद्रव्य को देखती है। शुद्धद्रव्य के सन्मुख होकर उसे देखनेवाली पर्याय मोक्षकारणरूप परिणमित हो जाती है। द्रवतीति द्रव्यं—अर्थात् अपनी पर्यायों को द्रवे, वह द्रव्य—ऐसी व्याख्या आती है, वह वस्तु को लागू होती है। वस्तु अपनी पर्यायों को द्रवती है अर्थात् अपने परिणमनस्वभाव द्वारा उस-उस पर्यायरूप से परिणमित होती है। द्रव्य-अंश की अपेक्षा से वस्तु अपरिणामी है और पर्याय-अंश की अपेक्षा से वह परिणामी है।—इसप्रकार सत् वस्तु दोनों अंशरूप है।

('ज्ञानचक्षु' गुजराती से)

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	" " " भाग-२	१.००
	" " " भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	पण्डित टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२४	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
	पाँच पुस्तकों का कुल मूल्य	२.६०
२६	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२७	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२८	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)